खोटी किरणें



रतन लाल शांत

खोटी किरणें

रतन लाल शांत

नीहार प्रकाशन
श्रीनगर
क श्मी र

प्रकाशक तथा विक्रेता
नीहार प्रकाशन
५५, बडीयार बाला (नई सड़क)
श्रीनगर—१

मुद्रक
इन्दु प्रिंटिंग प्रेस, श्रीनगर ।

आवरण
मोहन रैना

प्रथम संस्करण
१९६५
मूल्य : दो रुपये

यह भी क्या जनरव
कि कोई भी अर्थ
इनमें से पहचाना नहीं लगता !
सभी निःस्नेह शब्द कतरा कर चले जाते हैं ।

'प्रतिभा' गोष्ठी के
सदस्यों को

अनुक्रम

प्रका

नीहा

५५,

श्रीनग

इन्दु प्रि

खोटी किरणें

सूरज मेरे यहां से कभी नहीं गुज़रता ।
अपनी अंधी कोठरी के झरोखे से
मैं ने बाहर झांक कर
उषा के फूल सम्हालती मालिन से
और तारों की बंद होती दुकानों से
जितनी भी किरणें खरीदी थीं
वे सब खोटी निकलीं ।

मेरे पड़ोस का यह निष्काम बूढ़ा
और उसकी लटकती झुर्रियों के पीछे से
आती हुई तीखी नज़रें,

ये दोनों बचा कर
मैं ने जो सुंदर सा कमल चुरा रखा था
और जो कई दिन से मेरी कोठरी में
मुर्झा गया था
इन किरणों से जिलाया न गया।
मेरे उपहार की थाली खाली पड़ गयी
मेरे देवता की तनी भौहों पर
मुर्झाया कमल चढ़ न पाया।

मेरे हताश आंसुओं की जो झड़ी लग गयी
ये किरणें उन बूंदों में
इंद्रधनुष की
एक भूली सी मुस्कान भी न ला पायीं।

मेरे जीवन का संचित अर्थ व्यर्थ गया
ये किरणें खोटी निकलीं।

तपोधन मैं

मैं जीने के क्षरण भी जिया
और मृत्यु के क्षरण भी जिया
मृत्यु के क्षरण ! तुम्हें प्रणाम !

जीने के क्षरण मैं खूब जिया
तन-पांखें खूब फड़फड़ाता रहा
लेकिन मन इतना न तन सका
बीच-बीच में फटता रहा
बालवृद्ध मन खूब झुका
मैं टूटता रहा।

जीवन का वैविध्य मैं जिया
लेकिन हर लहर समेटने के यत्न में
पानी सा
मुट्ठी में आ न सका, फिसलता रहा
मैं बिखरता रहा।
मृत्यु के क्षण! तुम्हें प्रणाम।
तुम ने उस फटन को सिया
टूटन को जोड़ दिया
मुझ को अपने से दूर खींच
मेरे ही ब्रह्मद्वार पर खड़ा किया।
मैं देख पाया
मेरे प्राण सीधे होने के प्रयास में
कितने और ऐंठ गये हैं
ढीले होने के प्रयत्न में
कितने और कसे गए हैं
और कसे जाने के प्रयत्न में
कितने और नसे हैं।
मेरे पथ के साथी!
तुम्हें प्रणाम!

झील की साँझ

थकी झील की सांझ !
थकी मांदी झील का
अंतिम
अलसाया उपक्रम
समतल करने का
शय्या का लहरिल ज्वार।

लंबी होरही छांह चीड़वन की
ओढ़ रही झील, चुपचाप
हरितांचल का लोरी सा प्यार।

इस शिखर अकेली मेरी देह—
दुपहरिया में उछली
एक बूंद
एक कूल के टीले पर
निरुपाय !
उस शिखर अकेली एक किरण
अपनी लाली पर रीझ रही
जमी बर्फ से छुड़ा रही अपने चरण
कुछ खोज रही।
बीच हमारे
घाटी की तंद्रिल संध्या
सुप्त झील की आंखों में जागृत खुमार !

प्रलय का स्वागत

प्रलय की झलक
आंखों में कौंध जाती
मन पर जमी
पत्थर की परतों को
केंचुल सा उतार जाती है।
देखने को चट्टान सा हूं
पर हूं पथराया
धारा को देता हूं दिशा
पर घिसता हूं
भीतर से रीता हूं।

लहरों संग लुढ़कता हूं
काश कि मुक्ति पाऊं इन चट्टानी परतों से
अनावृत्त होऊं।
प्रलय की लहरो, स्वागत है
तुम बहती जाओ
मैं तल की रेती सा मुस्काऊं
उस दिन तक जीता हूं।

मन की गौरैया

कौवों की लंबी पांत
जब शाम को घर लौटती है
तो मन की गौरैया
बिसरे नीड़ को जाने का हठ करती है
'रहने भी दो,' कह कर उसे टालता हूं
रूठ कर वह पर फुला लेती है
'जाओ नहीं बोलती' कहती भी जाती है
और न बोलने का ख़ौफ़ भी दिलाती है
हंसता हूं स्थिति को सम्हालता हूं।

कौवों की लंबी है पांत

मेरे नीड़ को जाने किस कौवे ने लिया हो . .

(मन बड़ा आलसी है)

कभी आलस्य पर कुढ़ता हूं

और रूठी गौरैया को किसी तरह से मनाता हूं

रूठी ही उड़ जाय

तो उसका आकाश पथ हेरता हूं

होठों पर हास्य लाता हूं

वह मान जाती है

फिर आंसू पोंछने को

मुंह अपना फेरता हूं।

विज्ञापन

मित्र मेरे !
मेरी कहानी के पन्नों को
उलट उलट कर
तुमने मेरी पुस्तक पर कितने दाग़ लगाए
कितनी स्याही लुढ़का दी
रेखांकित सुर्खी से किए बहुत अंश
आधी रात का दिया जलाकर
अनुशीलन करके
कई नतीजों पर पहुंचे
और उन्हें लिख दिया
हाशियों के श्वेत स्थलों पर
शब्द जाल की भूलभुलैया में भी
कितना भटक चुके तुम।
अब मेरी पुस्तक
होली के दिन
गरीब गांव के बच्चों के
कीच भरे चेहरों सी
अपनी विवशता को छिपा कर
कृत्रिमता से हंसती है
और मुझ से कहती है :

मुझ पर अनुसंधान हुआ
और मुझे वह बताया गया
जो मैं नहीं थी।
मेरे बंधु,
इस युग में किस की है हिम्मत
कि अपनी उपलब्धियों, असफलताओं
या अपनी आशाओं को ही
कथागीतों का
भड़कीला जामा पहना दे ?
चाहते हो मुझ को पाना
तो देखो
मेरी पुस्तक का आदि अंत मध्य
इतने विज्ञापनों से भरा है
कि 'विज्ञापनशील' हुआ हूं।
और ये विज्ञापन तुमने अजाने में छोड़ दिए !
परखा इन को नहीं सराहा भी नहीं !
नहीं आज के युग के तुम कला पारखी
देखो मेरे विज्ञापन कितने हैं आकर्षक
इनको पढ़ो
मुझे खरीदो
और सजा दो अपनी बैठक में
या लटका दो दीवार पर
कि मैं दूर के ढोल सा सदा सुहाऊं।
मित्र, मैं ये ही विज्ञापन हूं
जिन में चटकीले रंगों का
नित नया प्रबंध होता है।

सृजन का क्षण

ठण्डी ठण्डी शाम पार्क की
वासती फूलों से डालें लदी
स्वाभाविकी अगमती नभ की
धुंधली सी उथली सी लगती
बस, घुटनों तक की गहराई।
नग्न चिनारों की अदृश्य है बौर
जैसे केवल सीख चुकी हो आँख मिचौनी।
दिन के परिश्रम और कमाई का देते हिसाब—
क्रौंच।
गिर्द पार्क के घूम रही लचकीली राहों पर
धानी पीली और वासंती साडियों की बहार
लुप्त हो रही हंसी की फुहार।

मैं कोने की एक बेंच पर मात्र एक क्षण
इन सब को अनजाने में करता आत्मसात।
मुझको इन सब में लगता है सौंदर्य
क्योंकि तुम भी हो मेरे पास।
मुझ को लगता मैं पड़ा बेंच पर नहीं
बल्कि मैं शेषशायी
एक क्षण मैं ने भी दे दिया जन्म विधाता को।

प्रवाह में एक द्रष्टा

मेरा सौभाग्य नहीं
न ही किसी काल्पनिक पूर्व जन्म की वरुणस्तुति
न ही नीर को अर्घ्य, पुष्पदान
कि आज लहर ने मुझ को फेंका एक तीर
जब तक मिट्टी सरकती रहे
जब तक इस तट का अस्तित्व भी
इसी लहर के भँवर में घुल जाय—
(जैसे अपराध
अयाचित क्षमादान में विस्मृत हो जाय)
मैं वह प्रवाह देख सकूँ
जिस में मुझे बहना है।
सरकते तट पर प्रवाह देखना आत्मघात है
आत्मघाती दण्डनीय होता है,
पर क्या करूँ
यह मेरा दुर्भाग्य भी नहीं
क्योंकि जाने क्यों
मैं 'तरंगों से फेंकी मणि एक' नहीं
बाढ़ के बहते फेन में फंसा एक कंकड़ हूं
बह भी रहा
और कह भी रहा—
मैं मात्र एक कंकड़ हूं।

विगत प्यार

अभी सजाई थी बगिया नरगिसों की
अभी न सारी मिट्टी निकली थी नाखूनों से
मटमैले थे हाथ अभी
आज रात इतने ज़ोरों की वर्षा हुई
कि मेरे हाथ धुल गए
सोंधी मिट्टी की सुगंध सब उड़ गयी
सब नरगिसें मुर्झा गईं।

इनकी महक
मेरे झरोखों को खोल कर
सारा कमरा
दीवारें, बुकशेल्फ

मेरे लिखने का पैड
लीप छोड़ती
देर रात तक
मेरे दिमाग़ की नस नस को
सहलाया करती !

आज सवेरे उठा कि देखा
महक मृत थी
पांखुरियों को पानी की धारों ने था धोया
उनको तो केवल
शबनम में मुंह धोने की आदत थी।

मैं बगिया पर दो आंसू रोया।

दूर दो बूढ़ी पडोसिनों की यह बात चीत सुनी—
(मरने को तैयार, समर्पिता सुगंध का
जैसे कोई गला रहा था घोट)
'पानी बरसा खूब
कि होगी शाली की अच्छी फसल।'

अभिशाप दो

मेरी ओ तुम !
मैं ने जो तुम्हें क्रास पर टांगा
कि निर्बाध जियूँ
तुम ने मेरे लिए प्रभ से
क्यों क्षमा का वर मांगा ?
'क्षमा'—दो अक्षरों की कीलों से
मैं खुद
किसी इतिहास की काली जिल्द पर
लाल शीर्षक सा टंग गया !
मुझे मृत्यु का अभिशाप दो
कि कीलों की चुभन सहने को
पुनर्जन्म ले सकूँ ।

बीमारी
एक अनुभव

अरी ओ हवा !

ज़रा झटक देना खिड़की के इस पल्ले को

पहली किरण धूप की
दूती सूरज की
इस पल्ले के साथ टंगी है, चिपक गई है
जब से मेरी नज़रें धुंधली हुईं
मैं ने इसे अचल गिलहरी सा
वहीं चिपका देखा।

मेरे कमरे का विषाक्त वातावरण है
यह कोना भी मुक्त नहीं इसके स्पर्श से—
यह सच हो,
है

अरी ओ हवा !
इस घुटते अंधेरे को
एक ओर सरका दो
और खोल दो खिड़की को झटका देकर
कि यह धूप की किरण
टूक टूक हो कर
सारे कमरे में
बिन चाहे भी छितरा जाय !

मेरे सिरहाने एक टुकड़ा
कि उसे सांसों से चूमूँ
मेज़ के तले एक टुकड़ा
वहां खेलता है मेरा छोटा सा बच्चा।
दीवार पर एक टुकड़ा
देख सकूं तस्वीर, जो टंगी है
एक टूक मेरी पुस्तक पर
पूर्ण करूँ अध्याय यह !
धूप की पावनते !
तू पतित पावन
मेरी अपावनता से अपावन नहीं होगी
मैं यदि तन से बीमार हूं
मन करता है तुझे गोद में ले लूं।

कुहरा

मित्र, ठीक है तुम्हें लग रही
मेरी आवाज फटी सी
विवरों वाली, नहीं एक सूत्र
जैसे कुहरे में
जनपथ के खंभों के बल्बों की एक पांत से
उनका प्रकाश कटा दिखता है
कुछ २ फटा फटा दिखता है
युग २ से है सहृदयों की आदत ऐसी
छांट परख कर
शब्द २ लेकर सुनते हैं
मेरे कहने का भले एक ही हो प्रवाह
ये प्रतिध्वनियां
उसे तोड़, दुहराती जातीं
यह मेरी ध्वनि और जग की बिखरी प्रतिध्वनि का
अजब मेल
तुमको काट फोड़ का सौदा ही लगता है
तो ठीक है
तेरे मेरे बीच ठिठुरता कुहरा जो है।

चिरजीवी

सजी सुथरी दूकान
करीने से रखी चीज़ें
दूर २ तक प्रकाश फैलाती लालटेन
लेकिन जब भी यहां से गुज़रता हूं
दूकानदार को
उपन्यास पढ़ते पाता हूं !

अनजाने में भी मेरा नाम
उधारखोरों की कापी के तीसरे पन्ने
चढ़ ही गया है
मैं भी कभी कोई चीज़ खरीद
प्रिया अनावश्यकता की भेंट करता हूं
लेकिन हर चीज़ के साथ

हर शाम हर रात
उसकी व्यवसाय - सुलभ मुस्कान को चुन कर
उस में से एक दर्द भी लेता हूं
उसी में अपनी चीज लपेटता हूं।

उस का दर्द उसके जोड़ जोड़ में
फैल चुकेगा तो लालटेन बुझेगी
तजरुबा
उसे गैस लैम्प जलाना भी सिखा दे
लेकिन
मुझे दी हुई उस की थाती
बुझी लालटेन की बाती
कड़ुए धुएं की लकीर
जाने कितने देर
मन की परत परत को
दिमाग़ की नस नस को
धुंधलाएगी
बहुत देर... ...

स्थगन

जन - पथ से दूर
एक उपेक्षित गलियारे में
असह्य वेदना चूर
अपाहज भिखारी को
मैं ने एक पैसा दिया
उसे पीर झेलने का संबल मिला
अंधे - से गलियारे में
मुझे दर्द से खेलने का बल मिला
गीतों के चौबारे में
दोनों दर्द स्थगित ही हुए
क्षण भर ।

वसंत गीत

दो श्वेत पंख हवाओं में उड़े
उनकी हरी छाया तले
करारे सूखे पत्ते भी उड़ते रहे
पुत्रवती डालों ने गर्व किया
दूसरा जन्म कितनी जल्दी पाया !

दो नील नयन मेरी ओर उठे
दो गहराइयां मेरी ओर लहरायीं
मैं सारस सा उन पर मंडराया
उनकी गहराई में हरी २ घास उगी
लहरों से सिहरी
शबनम की बूंदों से झुक गई।

समय

बाहर
चांदनी टिन की छतों पर छिटकी है
टिन से उठी प्रतिछाया
पड़ती है मेरी दीवारों पर
कोई सौंदर्य बांट रहा है
और इस उत्सव में मेरे हिस्से आती है
यही छाया।
यह प्रतिछाया
अंधेरे को तरलायित करती है
मैं कोशिश करता हूं बहने की।
मेरे कमरे में एक टाइमपीस बजरही है
इस अंधेरी खामोशी में

टिक टिक टिक
ये ध्वनिचिह्न छितरा देती हैं
जैसे अछूती फैली रेत पर
एक फुदकती चिड़िया के पंजे के निशान हों
मैं यत्नशील हूं इनको पकड़ सकूँ।
बीतता है यों ही क्षण--क्षण।

मैं इन को रोक बांधना चाहता हूं
परन्तु मेरे भीतर जो ठाठें मार रहा है
जो छलका जाता है
मेरे अस्तव्यस्त चिंतन से रोका नहीं जा सकता
जाता है व्यर्थ
और अप्रयुक्त
जो मेरी उंगलियों के पोरों के बीच में से
छलकता है
उसे बस थामे रखने के लिए
अपनी मुट्ठी भींच नहीं सकता
उंगलियां सटा नहीं सकता
यों ही बीतता है क्षण क्षण।

मारण मंत्र

मुझे बरसाती नदी में मत बहाश्रो
मैं घुलूँगा नहीं
बरसाती धारों से छिदूँगा नहीं
थमने दो वर्षा को
श्रौर मुझे पिछड़ी बूँदों सा मचलने दो
छितरे, रीते मेघखण्डों से टकराने दो
हलकी भीगी हवा संग लहराने दो
ठण्डक की नस २ में संचरने दो
मैं खुद ही घुलूँगा।
मुझे विष न दो

घोल उसे पी जाऊंगा
और इस खाल की सांस चलती रहेगी
मुझे मारना चाहो तो
गुलाबों के किसी वनखण्ड को
मेरी सांसों में टांक दो
वनखण्ड भूल जायगा
मेरा अस्तित्व स्वयं मुझे भूल जायगा।

(शशि शेखर के लिए)

वि
ग
त

मेरी दीवार पर लटके ओ इंद्रधनुष !
जब किसी अंधी घाटी को फलांगते
असमर्थ तुम बीच ही में टूट जाते
और किसी शून्य के तल से
टकराकर
टूक टूक हो जाते
तो कोई प्रतिध्वनि भी न होती ।

जब बीहड़ वनपथ पर
तुम्हारे रंगों के पदचिह्न
प्राण पखेरुओं से उड़ जाते

शीत पर्वतों का असहयोग यों कि
मेरी प्रश्नवाचक आहें अनुत्तरित रहतीं
तो मेरी आवाज़ों की द्रुतगामी परतें
सनसनाती हवा के किसी भंवर में फंस।
चीखती रहतीं।

मेरी दीवार पर लटके ओ इंद्रधनुष !
अब दीवार के अंधेरे पर गहरे वृत्त--
(अपने अवशेष)
कुरेद छोड़ो
कि धूल के किसी उपक्रम से पाटे न जायं
एक सेतु बांधो
कि स्मृति का पंगु सामर्थ्य बैसाखी पाय
सतरंगी चौंध नहीं
बस श्वेत डोरों की एक अलगनी डाल दो
कि मेरी अंसुआती नज़रें भूल जायँ।

महक का जन्म

कांटों में एक और फूल खिला
महक कितनी प्यारी है
शायद महक ही नयी जनमी
यह तो सौ फूल की क्यारी है
बेला है भोर की

हर महक का एक नया अर्थ है
अर्चना की लौएँ सिहरती हैं
प्राची का पुष्पहार जुड़ता है।

आस्माँ

जीवन के कुछ क्षण
सोच सोच में व्यर्थ गए
कि काश कहीं खड़ा हो पाऊँ
लेकिन यह छोटा आस्माँ !
कैसे उठ पाऊँ
कि तनिक ऊपर देखूँ
मैं पृथिवी से ऊपर कितना
मेरी पाँखों में कितना उड़ने का बल है
मेरा निजत्व जो दुहरा तिहरा हो
टुकड़ों में बटा पड़ा है

क्या जुड़ भी सकता है
मैं हो सकता हूं खड़ा
कि जीवन की हर सिलवट समतल हो जाए
लेकिन यह छोटा आसमान !
मगर आसमाँ छोटा है ?
यह मेरे सिर के ऊपर उलटा पात्र
या कि मैं ही अपात्र ?
खिसके मेरे पाँव तले आधार सभी
उठ कर रह कर खड़ा या कि मैं
छोटा ही निज को पाता हूं ?
मेरी ही बाहें कटीं, पँख टूटे गिरे
मैं ने जो नभ को कई बार
फैला कर बाहें नापा है।
(नापा है ?)

ईश्वर: प्रयोग शाला में

ओ परम आत्मा !
आज तक तुम गलतफहमी के हुए हो जी शिकार
कौन कहता, गुह्य हो
अनादि हो, अनंत हो ?
मैं समय के पंथ पर दस शती पीछे गया
कनफटे गुरु से लिया
आत्म चित्र खींचने का मंत्र
देह के अन्दर
इस जंतर मंतर में
रास्ता पूछे बिना भटका किया
अनुसंधान किया
प्रयोग शाला में मन को धो लिया
डेवलप किया

प्रिंट का जब समय आया
तो ओ परम आत्मा !
क्या पाया ?
मेरी आत्मा को इस माया चक्कर में
एनलार्ज किया गया और तुम बने
मैं तेरा आधार, तेरा नेगेटिव
मेरे बिना तुम 'परम' केवल
एक लंगडे दुमकटे उपसर्ग हो।
इसलिए पहले मुझे मुंहसिया अंधा बनाया
मेरे अढिग विश्वास की लगाम खींच ली
उचक कर कंधे मेरे पर चढ़ गए ?
ओ परम आत्मा
अब कहो कैसे तुम्हें एक्सपोज़ किया ?
रहा मैं
मैं अब भी हूं तेरा आधार
डेवलप होने से पहले भी कब का हुआ एक्सपोज
और रहा केवल 'आत्मा'
तुम खुद दूसरा नाम, जो बचा
अपनाए इतराए।

एक स्वप्न स्थिति

तुम मेरे लिए इतनी पवित्र
जितनी बादलों की तह पर रखी चांद की फाँक
मैं तुम्हारी याद से इतना रोमांचित
जितना बंद कमरे में उड़ता, सिगरेट के धुएँ का एक छल्ला
मेरी पलकों ने
दूर पहाड़ी पर की धूमिल बर्फ से
धूल की परत हटा दी है
कि तुम्हारी तपः पूत श्वेतिमा के दर्शन कर सकूँ
चांदनी धुले तारों का अर्घ्य चढ़ा सकूँ
कहीं अनिष्ट न हो
मेरे सरहाने लगी चाँद की नाव
खोल दे न पाल
शून्य में तैर रही
किसी परछाईं का आंचल
मेरी मुट्ठी में से खिसक न जाय !

रात भर बर्फ गिरी

रात भर बर्फ गिरी
जिसको निर्दय नल निर्वसना छोड़ गया
उस दमयंती
पेड़ की छाया को
जाने किस का प्यार श्वेत वसन ओढ़ा गया !

पेड़ की वह छाया सनाथ थी
चंद्रवंशी नल वहां सुस्ताए थे
लेकिन आज रात जो बर्फ गिरी
अभागी तिमिरवंशी, छायाएँ भी उबर गयीं
कितनी कंगूरों पर खुद ही लटक गयीं

कितनी काली छतों पर खुद ही पसर गयीं
और बरसते अनगिनत चुंबनों से
अँग अँग श्वेत हुयीं
कितनी हीनमना छायाएँ
आकाश की श्वेत साधुता पर भरमायीं
फिर कुछ ऐसा हुआ
कि किसी भार से शर्मा के कंगूरों से लटक गयीं।

मेरे आंगन के हिस्से की कोई थकी छाया
पत्नी से फैलाए मेरे कपड़ों पर सोई थी
कि किसी बेसब्र बर्फ से वहीं सफेद पुत गयी
मैं तो यह जानता हूं
पर जब सुबह होगी
मेरी 'वह' मुझे यह कैसे बताएगी ?

विदा गीत

तुम्हारे पारदर्शी आँसुओं की नोकदार बूंदें
टप टप टप
मेरे तप्त हृदय के काले तवे पर यों गिरी
कि जगह जगह
ज़ंग के लाल लाल फफोले उभर आए
यह मेरा दुर्भाग्य नहीं तो क्या
कि जब तक यह ज़ंग हृदय की हर शिरा में
यूँ भर न जाय
कि हृदय के एक ही बार धड़कने से
टूट टूट जाय
मैं कहने को कह भी नहीं सकता
"मेरा हृदय छलनी हुआ है।"
छलनी के कितने भी छेद हों
वे एक वृत्त में सिले तो रहते हैं।
मेरे फफोलों को जोड़ने वाला सूत्र
हवा की छुअन से भी कट सकता है।

दो डालें : एक चित्र

पार्क की ऊंची दीवार
भरी शगूफ़े से दो डालें खूबानी की
पुष्प भार से झुकीं,
एक बार की झुकी
बस झुकी रह गयीं।
बाहर दीवार के, खड़े लैम्प पोस्ट से
लिपटने को उतावली सी।
लैम्प का दूधिया प्रकाश उन पर फैला

जैसे प्रकाश
एक बार का निकला
वहीं जम गया है
या कि लैम्प ही धीरे धीरे
पिघल पिघल कर बौर पर छाता जा रहा।
एक बंदिनी प्रिया
जंगले के ऊपर से झुक कर
दो बाहों में लेकर
चुंबन के दूधिया इंद्रजाल में
अपने आवारा प्रिय को
स्थिरता का मीठा अभिशाप दे रही है।

दाग़

घाव का यह भद्दा मवाद
मुझे भी बुरा लगता है
इसे मैं भी हटाना चाहता हूं
लेकिन इसे भरने दो
यह भरेगा तो
पहले सा सपाट मांस होगा
फिर गेहुंई कांति छिटकेगी
तुम इसे कुरेदती हो
ठीक है, इस से मवाद हटेगा
और लाल मांस निकल आएगा
लेकिन फिर वह सपाट नहीं होगा।
तुम कहती हो
घाव खुद भर जायगा तो दाग़ भी रहेगा
लेकिन इसे भरने दो
घाव को कुरेदोगी तो घड़ा पड़ जायगा
घड़े के गिर्द का मांस सड़ जायगा
और भी कई दाग़ पड़ जायंगे
वे अंतस् से भी जुड़ जायंगे।

अगर फिर कभी बहार हो

यह बहार की धूप
तुम्हारा यह निखरा सा रूप
काश कि झूमे श्वेत सफेदों सा मेरा अस्तित्व

हवा फुदक कर ज्यों ही बैठे सब से ऊंची डाल
डोलें मेरे पांव कि डोले हर पत्ते की छांव
रूई के गालों सा मैं रोमांचित
श्वेत सफेदों से छूटूँ, उड़ूँ
हर कहीं छाऊं !
काश कि मैं ने निज को होता
रूई के गालों सा बाँटा।

यह बहार की धूप
मैं नहीं तिर रहा रंगों की लहरों पर
मैं अपनी चेतना में चुभ रहा खुद
कीकर का एक भद्दा कांटा।

ओ मेरे प्यार !
आओ कि तुम्हें बनाऊँ कीकर का एक फूल
औरों की नज़रों में होगे नहीं अर्घ्य तुम
पर मेरी झाड़ों झंखाड़ों की है धरती
इस धरती में उग न सकेगी रजनीगंधा
इस में मैं भी उगा
और भी कई कीकर उगे बस जलने को !

मेरे कीकर की पुष्पलते !
ओ मेरी निधि, महको
वायु पर महक के निशान छोड़ो
कभी अगर फिर बहार हो
फिर सफ़ेदों की रूई सा उड़ पाऊँ
तो इन निशानों को अपना बता सकूँ।

नैपकिन का दर्द

कंधे भिड़ाती दावतें
खाद्य पर भिनभिनाते सभ्य अतिथि
'हाउ डू यू डू' की भूमिकाएँ
'मीट माई वाइफ' के नान्दी पाठ
तलाक के लिए कोड बिल के भरतवाक्य
ये नाटक ! ये अभिनय !

सभा सोसाइटी
अनौपचारिक उपचार
अनफिट मुखौटों की पेशेवर मुस्कानें
नातों रिश्तों के ये फंदे
अनुष्ठानों के विस्तृत जाल।
यह अनगिनती छेदों वाला जाल बिछा जो

कैसे ढक ले उस गहरी अंधी खाई को
जिस में मुखौटों की मुस्कानें क्या
अट्टहास भी खो जाते हैं
बिना गूंज के
जिस में रिक्ति भरी है।

कोई आओ
खतम हुई है सभा-सोसाइटी
लेकिन मेज़ों के नीचे
मसली फेंकी गई
(यद्यपि अभी धुली लाई गई)
नैपकिनों से
फोर्कों की चुभन
छलक रहे होठों के रस के दाग़
धो डालो !

कांच का घर

मौत री !
रोज़ रोज़
या कभी कबार
या क्षण क्षण आ कर
खड़ी खड़ी बाहर से ही
मेरी खिड़की के शीशे से मत अपना मुँह
यों सटाओ !
भीतर से
नीलम की इस गोल तश्तरी से कपोल को
चूमने का जिया करता है।

नहीं पारदर्शी शीशों को फाँद फेंकना
गंधहीन सेमल के से फूलों का आभास

भीतर का यह वातावरण
गंधशील है परसशील
इस छायाभास को पकड़ सजाने का
कई बार जिया करता है।

वज्रों के फानूस तुम्हारे नाज़ुक हैं
नहीं सौंपना इन्हें वायु के कधों को
वायु के थकने और हांफने पर
इस नाज़ुक बोझ को फेंकने से पहले ही
यह चातक - संस्कारी मन
इन को छूने का आमंत्रण
बार बार दिया करता है।

एक हमारा कांच बना घर
इसके 'भीतर' से चाहो तो खेलो
नहीं बैठना इसके ऊपर।

दस्तकें

सुना करते थे

इन खाइयों के तलहीन अंधेरों से
आया करती थी आवाजें
कुछ भटकी रूहें होंगी
कुछ अपमृत प्रेतात्माएँ
कोई अधबुझी प्यास
कि जिस से जीवन घट छिन गया।

नहीं नहीं
कविता का यहां नहीं स्थान

यह केवल श्रोताओं की गलतफहमियाँ

या कि अनर्गल परिकल्पनाएँ

या कि मनोवैज्ञानिक दोष

भौतिक अभाव

या दमित वासनाओं की आवाज़ें

और बहुत कुछ

और कई बातें।

लेकिन ठहरा मन गँवार

सोच रहा यह क्या है बात

हर कोई ठिठक ठिठक जाता है

जब यहां से गुज़रता है।

कीकर के फूल

आज फिर कीकर में आए फूल
इस रंगीन मेले के इस उदास कोने में
मेरी मुट्ठी में उगी निफूली डालियों पर
उड़के कहीं से आ लगे गुब्बारे
मेरे कानों के पास से
उड़ने लगी कई अदृश्य किलकारियाँ !

कीकर पर आए हैं फूल
या कि कोई उड़ती सुगंध
वहां से गुज़रती कि छिन्नतार हुई
कुछ यहां अटक गई, कुछ वहां लटक गई।
कई धूपजीवी आकार
मेरी अर्चना के बन गए संदेशवाह !

युग धर्म

सोचता हूं
कभी किसी भीड़ की हलचल में
लगूं अचानक चिल्लाने—
अरे गया
छूट गया
मेरे हाथ का गुब्बारा
लो उड़ा जा रहा ऊपर
कोई रोको
कोई...
लेकिन ऐसा मात्र सोचता ही हूं !

जानता हूं यह भी
कोई रुक कर मुझ से पूछेगा भी नहीं
कैसा गुब्बारा था
क्यों कैसे छूट गया
तुम्हें गुब्बारे से क्या था काम ?
दो शब्द कहने को कोई नहीं रुकेगा
सभी ठेलते मुझको
सभी रौंदते मेरी आवाज़ को
आगे बढ़ जायंगे।

अभी जो पड़ा हूं दूर हलचल से
मेरा होना नहीं किसी को लाभ हानि है
इसी लिए कुछ आयोजन करने की
जगती है साध
कि बोल सकूँ चिल्ला चिल्ला के—
मैं भी 'हूं' लोगो !
या शायद इस बढ़ती भीड़ में
कोई मुझे ठेल दे
ठुकरा दे या धकेल ही दे
या यों ही मैं किसी से भिड़ जाऊँ
(भिड़ने वालों का समूह है भीड़)

समझूँ मैं भी मुझे मिली है सहानुभूति।
लेकिन यह बस सोचता ही हूं
आयोजन चमत्कार भरे हों
खाली नहीं होते।

यदि मैं खुद को बाँट सकूँ
भीड़ में बिखरा दूं
जगह जगह पर कुतरूँ जेब
इसके वक्ष या उसके पृष्ठ में
कोई पैनी चीज़ भोंक दूं
यहां बहाना करके रोऊँ
वहाँ लगूँ चिल्लाने
इसे दोष दूं
उस को धोखे की मिठास दूं
खुद को फँसा सकूँ
प्रतारण की उलझन में।
तो शायद यें लोग
समझ लें मुझ को अपना
यह भीड़ मुझे अपना ले।
मर्म समझ लूँ
अपने युग का धर्म समझ लूँ।

परछाइयों के संकल्प

यों तो मैं
गिरी दीवारों
उखड़े जंगलों
जल गयीं फसलों
और बह गए खेतों में से
आता और जाता हूं रोज़ रोज़
मेरे पगचिह्नों की एक ही है पांत
उस को ही हूं रोज रौंदता।

मेरे अनजाने में, लेकिन
मेरे अकेलेपन की

अनचाही पिछलग्गू परछाइयाँ
मेरे दिमाग की रिक्ति में
जा बजा प्रश्न चिह्न टांगती हैं।
छोड़नी पड़ती है मुझ को वह लीक
देर तक गड़ती है यह बिछुड़न
मन में मेरे ठीक ठीक !

जब किन्ही मोटी काईदार दीवारों पर
मुक्त गवाक्षों को बांधते
अनगिनती मकड़ों के जालों पर
कमरों में या आंगन में
या किसी फिसलनी देहरी पर
या छत की टूटी मेहराबों पर
उगी वन्य घास को
मेरा रुकना
झुक कर देखना परखना
या गुज़र जाना
पहले सा अबाध छोड़ देता है ;
तो मेरे कैवल्य का कोई साथी
मुझे झिंझोड़ देता है

ग्रौर दूसरे ही क्षण
खुलते हैं गवाक्ष
ग्रौर कोई लवंगी कुरंगी
'मस्तकन्यस्तहस्ता'
राजकवि का काव्य पाठ सुनने को झुकती है
खिड़की पर।
या आँगन का द्वार खुलता है
ग्रौर परिजन रक्षित गढ़ की प्राचीरें
गूँज उठती हैं
महाराज शिवा के घोड़े की टाप से।

कभी किसी एलोरा के या खजुराहो के
टूटे पाषाण स्तन
या मिट्टी की दरारपड़ी जंघा पर
मैं भी हंसता हूं गुज़रती भीड़ के साथ
समरस हो जाता हूं
तभी स्वर्ग से लौटा मेरा कुत्ता
काट खाता है मेरा मर्म
ग्रौर दूसरे ही क्षण
चारों ग्रोर हथौड़े चलने लगते हैं
चलती हैं छेनियां ग्रौर कुदालें

... रौरव शोर ...
फटने लगते मेरे कान
मैं पागल हो अंधकार बन जाता हूं
अपनी परछाइयों का प्रेत!
देखता हूं
धुएँ का हज़ारों साल लंबा वितान फाड़
उतरती हैं गाथाएँ अमरों की
हिरण्मयी भंगिमाएँ अप्सराओं की
हथौड़ों के आह्वानों को चूम
गुफाओं में जड़ जाती हैं।
मेरी ये पिछलग्गू परछाइयां
मेरे कैवल्य के अज्ञात साथी
मेरी परछाइयां
कुछ और हैं कहीं और
पर यों ही कभी आकर
मेरे खाली पन्नों पर
अपनी उपस्थिति अंकित कर जाती हैं
मेरे विचार शून्य क्षणों में
संकल्प धर जाती हैं।

पैटर्न

कभी असूझ अंधेरे में
या मेरे मन के किसी उपेक्षित कोने में
कहीं से एक शिखा आकर जलती है
तो मुझे उस एकांत में
अपनी भी उपस्थिति खलती है।

झींगुर की सीसी पर
या जुगनू की पाँखों पर तिरती है
रंगों की झाग
मेरे अस्तित्व में उतरती है
तो मेरी निस्पंद सांसों में
कोई प्यारी सी गति पलती है।

चौंधियाते बल्बों के
उलझे किरणजाल में से
मुश्किल से रास्ता कुरेदती है
और मेरे पास खिंची चली आती है
पतली एक धुएँ की लकीर,
मेरी हथेली में
जड़ें, जड़ें, और जड़ें ही फैलाती है
पेड़ सी उगती है तो
सामने के कागज़ के टेढ़े मेढ़े
सिलवटों के पैटर्न में ढलती है
मैं यह देखता होऊँ
तो मुझे अपनी भी उपस्थिति खलती है।

एक आशावादी का वक्तव्य

पटरी पर गर्दन रखने वाले, ठहरो !
तुम्हें ज़रूरत है मेरी साक्षी की
मेरे ग्रंथों के पन्नों पर
बहुत देर से छाया है
एक सपाट मौन,
शायद तुम्हारी विवशता के टूटे बांध
और इस निर्जीव लौह पटरी की
अनिमंत्रणवती दो बाहें
और क्षितिज पर उगती रेलगाड़ी
एक दृश्य जुटा दें
मेरे पन्नों पर अंकुर गढ़ सकें।
ठहरो !

गुज़रने दो रेलगाड़ी को
झांकते चेहरों की सिलवटों को
उज्ज्वलताओं को,
ज़रा हाथ हिलाओ
तनिक मुस्कराओ
कि इन भागती कहानियों में
नए अध्याय जुड़ सकें
नए सूरज उग सकें
या नए क्षितिज विस्तृत हों
या कुछ ऐसा ही हो।

ठहरो !
मैं जीवन गीत गा रहा हूं ।

भीगी गोदी में सिर गाड़े
नहीं गंवाओ अपनी अगनित सिसकियां
जो मेरी कविता में झड़ कर
हो सकती हैं भास्वर ।
तुम्हें नाउम्मीदी ही मिली
जीवन भर
न्याय से तुम उन्नत थे

लेकिन तुम रहे ताकते
जब कई बार सामने से
तुम्हारी थाली छीनी गई।
तो क्या हुआ
उठो !
शायद कल की धूप हो प्रखर
कि तुम्हारे आंसू सूख सकें।
जियो
शायद कल सुबह अचानक
लोगों में समवेदना हो जागृत
खतम हुई हो बेईमानी
न्याय की तुला
खुद ही आकाश में टंग गई हो।
जीवन फिर से बटना शुरू हो
शायद
तुम्हारे भाग सब से ज़्यादा हो
या शायद
कुछ अकल्पित, असंभव हो
या शायद कुछ भी न हो

कल भी आज सा ही हो।
मगर तुम उठो
यह तो सोचो
कि मैं जीवन गीत गा रहा हूं।
सुनो

मैं जीवन का गाना गा रहा हूं
मुझे चाहिए उद्बोधन का छेड़ूं राग
हाँ चाहिए मुझे खुद को समझाना
सत्य यह भले ही हो
कि मैं कहीं जीवन को किसी सिलवट में
सिर के बल टंग गया होऊँ
जिस से मृत्यु के सब आकार मुझे
सीधे और चलते फिरते दिखाई देते हों,
गगन के चमकते ध्रुवतारों को
उलटा देख रहा होऊँ
मैं ऊँचाइयों पर यों डोल रहा होऊँ
कि बूढ़ी हवा मुझको ढोते थकी हो
हांफने लगी हो।
(वैसे मैं पहले से ही एक अतलता का
पा चुका हूं आधार
जिस पर मेरा एक पांव टिका है)
सत्य यही भी हो
तो क्या हुआ
गीत रचने की होती है
कुछ ऐसी ही स्थितियाँ
मरणधर्मा स्थितियाँ।

आदिम और आधुनिक

निचले तल्ले में रेडियो बज रहा है
मांस भूंजने की वही गंध आ रही है
लेकिन मुझे लगता है कि
कल शाम और आज के बीच
मैं युगों बीत गया हूं।
कई आदिम स्मृतियां मुझे खींच रही है
कई लौह पटरियों पर दौड़ रहा हूं
कई आकाशों में लटक रहा हूं
कई सुवासित गोदें मुझे ले रही हैं

मेरे भीतर झड़े पीले पत्ते उड़ रहे हैं
कई सूरज मेरी ओर आंखें फेंक रहे हैं।
लेकिन मेरी बेदाग़ हथेलियों पर
कहां से आकर चिपक जाते हैं
शस्त्रों के आकार !
मेरे रास्तों पर कहीं कोई कीड़ा भी नहीं
क्यों मेरे तलुओं पर ख़ूनी पंजे छपे हैं ?
मैं तो डालता हूं कदम
हवा की ही एक समांतर सड़क पर
अक्षरशः फूंक फूंक कर।
मेरे पीछे चली आ रही गंगा
एकदम सिमट आई है
और मुझ में भरी जा रही है
मैं ने कब शंख फूंका था ?
मेरे गले से क्यों चीत्कार निकल रही है ?
मैं रीते मटके सा बज रहा हूं।

मेरे एक दिन की ज़रूरतें

मुझे चाहिए
बिस्तर से लगी एक खिड़की
कि सुबह के गुनगुने क्षणों में
देखने को मिल जाय
आकाश से आरही मुक्त बूदों की एक हलकी फुहार
और लुकती छिपती धूप के
गुलाबी डोरों से उसकी छेड़ छाड़ !

भीड़ करें मेरी खिड़की पर आकर
घुमावदार
पेंसिल के रेखाचित्रों से आकार

मेरे नयनकोर भारी हों
पलकें मेरी भीगीं हों
यों ही बीते भोर।
फिर चाहे सूरज उगे
या चांद ढले
व्यापे न मुझे कोई अनिवार्यता।
जब दिन यों ही खत्म होता जाय
इस बड़ी सी दुनिया में
मेरे ज़िम्मे भी हो कोई व्यसन
मैं भी बाकारों सा
घर से बाहर जाता दिखूं
फिर चाहे दिन भर भटकूं ही
अपना सा कोई कोना पाकर
अपनी रिक्ति वहीं फेंक आऊँ
या कुछ और ही रिक्ति संचित कर लूं
डाली डाली पर
दिन भर फुदक फुदक कर।

कोई गंधबाही प्रतिमा आए
और मुझे भी अपनी सुगंध की
एकाध चुभन दे जाय।

एक काउँटर मुझे चाहिए
खुद न बिकूँ तो
कैसे लोग बिकते हैं या बेच रहे हैं
पड़ा वहीं से देख सकूँ।
पीने को थोड़ी सी हवा मिली धूप चाहिए
बिना कोट के शायद पी न पाऊँ
घर लौटूँ तो
मेरी ओर देखता एक पत्र
लेटरबाक्स में पड़ा मिले।

●

सुबह : बर्फ वाली

रात भर इनको सुलाया था पांत में
अपने ही सिरहाने।
चलती है शीत हवा सड़कों पर
आँगन में
चुभती सी गात में
बाहर न पाए कोई जाने—
मैं ने भी तुतला कर
इन को समझाया था।
नभ पर थे मचल रहे कल शाम
धीरे से हाथ पकड़ इनको मैं लाया था

बिस्तरे पर पांत में बिठाया था
बर्फ के शिशु गालों को।

सुबह
आँगन में सड़कों पर
अनगिनती ऐसी
श्वेत श्वेत हिम पताकाएँ लिए देखीं
वही पहचानी शिशु आकृतियाँ।
चौंधियाती आंखों पर
चश्मा न चढ़ा सका मैं
कि अपने सामने फैली
असीम महत्ता का उद्घाटन अस्वीकारूँ
व्योम में बिखरे
इन के पगचिह्नों को
अनांकित बता दूँ
आंखें मूदूँ
कि यह भारावनत शाखा
मुझे, सामने होकर, भी न दिखे।

शाखाएँ झुकी रहीं
और मेरे ऊपर संख्यातीत श्वेत हाथ

विदा में हिलने लगे
मेरे बिस्तर से विदा
मेरे तकिए से विदा
मेरे दिमाग़ के कठघरों से विदा।
उत्तर में मेरे हाथ प्रश्न बन उठते हैं।
कल की बच्ची बर्फ !
आज मुझ से भी बड़ी हो
मेरी ही उंगली पकड़ टहनी पर मुझे फुदकाओ!
मुझ को भी छतों पर फैला जाओ
तेरे नभ आंगन में
मैं भी घुटनों चलूंगा।

रंगों भरी शाम

यह भी क्या शाम
कि अपनों सा परचता कोई अंधेरा कोना
नहीं मिल रहा
कि मेरे साथ चिमटी यह चौंध
घुट जाती ज़रा देर।
पानी में डूबती उतराती
रोशनी की सर्पीली परछाइयां भी क्या
कि इन का कोई रंगदार सांप
टूट टूट कर भी मेरे पास नहीं आता
(चाहे पूरा टूटा ही आ जाय)

मुझ को डस नहीं पाता
निश्रान रौशनियों की ये
ज्यामितिक कलाकृतियाँ भी क्या
कि इन से फव्वारों सा छूटता
दूधिया धुँआ
मेरे पास नहीं आ पाता
आते ही अपना अस्तित्व निरर्थक कर देता है
मेरी नसों में भर उन्हें फुला डालता
हल्का हो मैं कुछ देर तिरता।

यह भी क्या अतंत जनरव
मुदित मोहमय मुद्राओं के अट्टहास,
प्रयोजनवती मुस्कानें,
मुक्त हास्य की सी भ्राँति,
कि कोई भी अर्थ पहचाना नहीं लगता
सभी निःस्नेह शब्द कतरा जाते हैं।
यह भी क्या दूकानों सी सजी गंध,
किसी खिड़कीहीन अंतःपुर की
लिपी दीवारों की सी हरियाली,
ये भी क्या हवाएँ, रँग या संध्या
कि घर लौट कर
रिक्त ही होता हूं। फिर पूर्ववत्।

मोज़ार्ट की एक रचना सुन कर

मेरे सामने हैं धरती आकाश को मिलाते हुए
अछिन्न धाराओं के असंख्य लँबाँश
और इन के पीछे से बड़े थाल सा सूरज
अपनी सतरंगी किरणें मुझे भेज रहा है
इनको धाराओं में से धुल कर छन कर
आना पड़ता है मेरे पास।

मेरे भीतर
कोई अनजाना शिशु
शत शत पतंगों के डोर
अपनी मुट्ठी में थामे हुए है
पतंगाछादित नीले नभ में से
कई स्वरित उदात्त मुलायम पँख
डोरों के बीच में से और डोरों को छूते हुए
मुझ तक उतर आते हैं।

(मुझ में पंक्तियों में अंकुर उगते हैं)
छुअन का रोमाँच डोरों में से होकर
मुझ तक चला आता है
और खड़ी बौनी कोंपलों को
लहरियों में बदल जाता है।
लहरियों के कई अमूर्त बिंब
किसी सुनहरी मछली के परों से
यों मिलाए जाते हैं
कि लहरें उठती तो दिखती हैं
कहीं खत्म होते नहीं लगतीं।
केवल सोनमछरी की करवटें
कभी उसकी रक्ताभ पीठ
कभी संगमरमरी पेट
कभी उसकी अनझिप आंखें ही
रह जाती हैं शेष।
मैं यह देखते हुए रह जाता हूं
एक विस्मृत आकार मात्र
इस बंकिम समांतरता में
एक ड़िज़ायन बनकर कहीं भूल जाता हूं।

+

+

+

अजीब स्थिति है मेरी। हर कविता लिखने के बाद मुझे लगता है अभिव्यक्ति ने मेरे कथ्य को अकथित ही छोड़ दिया है। आवाज़ तो बाहर निकलती है लेकिन उसकी अनुगूँज बहुत देर तक सालती रहती है, भीतर ही भीतर। यह प्रतिक्रया पिछले दो तीन वर्ष से ही हो रही है। पहले होती होगी, याद नहीं। लिखना १९५४ में शुरू किया, कालेज के मैगेज़ीन के लिए और दो तीन वर्ष तक काश्मीर हिन्दी साहित्य सम्मेलन की आरंभिक और प्रशंसाप्रतिबद्ध गोष्ठियों को छोड़ कर स्तर मैगेज़ीन से ऊपर न उठ सका। तब और अब के बीच बड़ा अतंराल है इसी से उस कविता के स्तर पर कुछ कह पा रहा हूं। शायद आज भी उस स्तर से कुछ ऊपर उठ न सका होऊँ; लेकिन अब इस से संलग्न रहने के कारण यह समझ नहीं सकता हूं।

+

हिन्दी में लिखना आज से दस पंद्रह वर्ष पूर्व कुछ अजीब, कुछ अस्थानीय और कुछ असामयिक लगा था लेकिन आज यह उतना गलत नहीं लगता। सृजन के लिए वातावरण प्रेरणा और प्रोत्साहन चाहिए और इन में से स्थानिक तौर पर यहां कुछ भी नहीं। फिर अहिन्दी प्रदेश के हिन्दी कवि के अनुभव और उसकी दृष्टि उस स्थल तक ही सीमित नहीं रहेगी लेकिन स्थानिक रंग (?) से मुक्त भी नहीं हो सकेगी। यह ठीक है कि अनुभूति की शुद्ध परिणति हर संवेदनशील कवि के लिए समान होती है लेकिन

संवेदना को सर्वग्राह्य और सर्वसम्प्रेष्य बनाना भी आवश्यक होता है।

+

खोटी किरणों का पहला आभास मुझे १९५९ में इलाहाबाद में हुआ। किरणें तो बहुत पहले खोटी हो चुकी थीं, लेकिन इलाहाबाद में उस सुबह वे अचानक बिक गईं, जब मुझे बताया गया कि विश्वविद्यालय द्वारा आयोजित प्रतियोगिता में उन्हें प्रथम घोषित किया गया था। कौन जाने कि तब से मैं उस खोट को जीते हुए परख की आँख ही खो चुका होऊँ।

+

दैनिक जीवन में हम सनसनीसमाचारजीवी या कहें कि सनसनी-जीवी हो गए हैं। कोई बड़ी दुर्घटनात्मक घटना न घटे तो हमें अपना जीवन निरर्थक लगने लगता है। ऐसे में शुद्ध मानसिक अनुभूति के क्षणों की सहजता और गहनता और बढ़ जाती है।

+

कश्मीर के कवि से अनायास ही आशा की जाती है कि प्रकृति - सौंदर्य को प्रकट करे। औरों का तो नहीं कह सकता लेकिन मैं इसे ऊब की हद तक जीते जीते थका हूं। आप से भी चाहता हूं कि इस सौंदर्य को केवल पहाड़ों में न देखिए घाटी में उतर कर इसे लोगों की वृत्तियों में ढूंढिए तो जान जायेंगे कि यह अब केवल एक आवरण, एक लबादा और एक मुखौटा रह चुका है।

+

'छायावादी संस्कार' शायद मुझ में ढूंढे जासकते हैं. मिल भी सकते हैं। लेकिन मैं इस बारे में निश्चित हूं कि ये शायद वे ही छायावादी संस्कार नहीं जो समवर्ती ऐतिहासिक परम्परा हमको

दे सकती थी। जब मैं ने लिखना शुरू किया तो नयी कविता अपनी वस्तु और रूप दोनों को स्थिर कर चुकी थी। लेकिन जब आज भी हिन्दी प्रदेशों में छायावाद को नहीं मानने वाले मौजूद हैं तो क्या अजब कि यहां खुद अध्यापक 'लहर' को 'मलयानिल की परछाईं' मानने को तैयार नहीं; वह छात्र को क्या दे? अहिंदी प्रदेश में हिन्दी के संस्कार डालने में अध्यापक का हाथ कितना महत्त्वपूर्ण है यह स्पष्ट है। हमारे संस्कार कैसे बन सकते? कौन हमें यहां उस वातावरण से सम्पृक्त करा सकता जो कविता को कविता मान कर ही समझने के लिए तैय्यार करता है, अपने आग्रह (अज्ञानप्रसूत) कविता पर लादना असहृदयता मानता है। आग्रहमुक्त वातावरण और अनावृत्त मनुष्य उसे लेने को, 'आंजुरी' में भरने को सन्नद्ध! वैसे साबित कुछ भी हो सकता है। श्री न० वि० शर्मा ने 'अज्ञेय' को 'छद्मछायावादी' कहा है।

+

मुझे जीवन का हर कार्य विवश हो के करना पड़ रहा है, मेरे बहुत भाव और मेरी अभिव्यक्ति इसी वातावरण के तले घुट रही है। शायद कभी इन की संभावनाएँ प्रत्यक्ष हों। हर अच्छी कविता पढ़ कर थोड़ी देर के लिए अनुमान करता हूं कि वह मेरी ही लिखी है। अच्छी कविता पढ़कर मुझ पर दूसरी प्रतिक्रया यह होती है कि उदास हो जाता है। इस उदासी को जितनी देर ढो सकूँ उतना ही सृजन का क्षण मेरे निकट आता जाता है। तीसरी प्रतिक्रया यह है कि अपने परिवेश की व्यर्थता से परिचित हो जाता हूं। कविता कितनी भी तथाकथित 'आशावादी' हो व्यर्थता की यह छाया मुझ से तभी हटती है जब कहीं और कोई दूसरी अच्छी कविता पढ़ने को मिलती है।

+

रचयिता के लिए यह बहुत आवश्यक समझता हूँ कि वह जीवन को अधिक से अधिक सामान्य स्तर पर जीने लगे। वह खुद को किसी बने बनाए या सुने सुनाए फार्मूले के अनुसार संचालित न समझे। पूर्वाग्रह शायद इसी प्रवृत्ति का अतिशयोक्त नाम है। अनावृत्त हो कर जीवन से ग्रहण करना मेरे लिए उतना ही कठिन है जितना हमारे समय के किसी अन्य संवेदनशील व्यक्ति के लिए हो सकता है। ऐसे कठिन क्षण यातना में से गुज़ारते हैं लेकिन ये ही कोई उपलब्धि भी प्रदान करते हैं।

—रतन लाल शांत

पूरा नाम : रतन लाल रैना

जन्म : १९३८, श्रीनगर

शिक्षा : एम० ए० (इला०)

सम्पादन : 'कश्यप' श्रीनगर

आजकल : अमरसिंह कालेज

(हिंदी विभाग) श्रीनगर।